

बदलते जीवन मूल्य

प्रो० हरि नारायण दुबे

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद

मो० : 9936917424



बदलते जीवन मूल्यों का सबसे भयावह पहलू है— सामाजिक जीवन में बिखराव पैदा करने वाली अपसंस्कृतियों का तेजी से उदय। इनके प्रभावों से सामाजिक जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग सामाजिक सरोकारों से न केवल दूर होते हैं, बल्कि कट जाते हैं। व्यक्ति केन्द्रित भोगवादी जीवन—दृष्टि क्रमशः पाँव पसारने लगती है। यह तथाकथित व्यक्ति केन्द्रित नवसुखवाद सुख की व्याख्या करने लगता है। आज हमारा भारतीय समाज ऐसे ही नवसुखवादी जीवन मूल्यों से धीरे-धीरे ग्रसित हो चला है। उदारीकरण तथा वैश्वीकरण के चलते अनेक देशों के जीवन मूल्य परस्पर घुलमिल से गये हैं, जो एक सहज प्रक्रिया की देन है। इस पारस्परिक मेलजोल या संगम में किसी एक की प्रधानता तथा दूसरे का समावेश होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है।

भारत की अपनी सहस्राब्दियों से प्रवाहमान एक सांस्कृतिक अस्मिता जीवन पद्धति रही है। उसमें अपना जीवन मूल्य, दर्शन तथा प्रबल आध्यात्मिक प्रवाह रहा है। कितनी संस्कृतियाँ इसके प्रवाह में आकर मिलीं और भारतीयता का स्वरूप ग्रहण कर उपर्युक्त शक्तिशाली परम्परा की अभिन्न अंग बन गईं। जो भाग अपनी या अन्य परम्पराओं का अस्वस्थ अथवा अग्राह्य था, वह हमारी स्वस्थ परम्परा के स्वस्थ प्रवाह में आकर स्वयं विघटित और नष्ट हो गया। भारतीय परम्परा की अन्य संस्कृतियों के साथ मिलजुलकर आगे बढ़ते रहने की यह प्रवृत्ति एक ओर जहाँ इसकी विशेषता एवं जीवन्तता मानी जा सकती है, वहीं कभी-कभी यही प्रवृत्ति इसकी कमजोरी भी बनती गई। विदेशी आक्रमणों एवं आक्रान्ता संस्कृतियों से ग्रसित होने पर भी हमारी सांस्कृतिक अस्मिता कभी भी कमजोर नहीं हुई। भले ही कुछ दिन के लिए इसकी गति में शिथिलता आई हो।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक के काल तक हमारे जीवन मूल्य पर आने वाले बाहरी प्रभावों के खतरों को हम टालने तथा अपनी पूर्ण पहचान को संजोने एवं सुरक्षित रखने में लगभग सफल रहे। लेकिन उक्त सदी के उत्तरार्द्ध काल से आज की वर्तमान स्थिति तक के काल में हमारे जीवन मूल्यों में गम्भीर बदलाव आया है। विकास एवं आधुनिकीकरण की नवोदित प्रक्रियायें हमारी परम्परा को केन्द्र से हटाकर इस बीच हाशिये की ओर

लगातार धकेलने लगी हैं। विकासवादियों के अनुसार विकास एवं आधुनिकीकरण हमें परम्परागत मूल्यों से हटाकर अथवा उनकी मान्यताओं में न्यूनता लाकर नवोदित समाज को एक नयी दिशा एवं जीवन मूल्य दिया करता है। परन्तु हमारे समाज में ऐसा होता हुआ दिखायी नहीं दे रहा है। उल्टे अस्मिता और पहचान के संकट को लेकर समाज में एक नया प्रतिरोध जागृत होता हुआ दिखायी देने लगा है। इतना ही नहीं, इस प्रतिरोध ने आकामक ढंग से विकास की आधारगत अवधारणाओं को गम्भीर चुनौती देना शुरू कर दिया है। धर्म के प्रति आग्रह अब पुनः सशक्त होते जा रहे हैं तथा समाज के कतिपय समूहों ने साम्प्रदायिक भावना के प्रति उग्र एवं कट्टरवादी दृष्टिकोण अपनाने लगे हैं। इसके साथ ही कुछ समूहों के लोग प्रजाति, भाशा, धर्म, क्षेत्रीयता और सांस्कृतिक प्रतिष्ठा-चिह्नों को लेकर नयी जातीय भावनाओं को उभारना भी शुरू कर दिया है। इस बीच सांस्कृतिक स्वायत्तता की नवीन माँगों ने अलगाववाद जैसे दुःखद मार्ग को अपनाने तक की स्थिति पैदा कर दी हैं। संवैधानिक स्वायत्तता की नई-नई माँगों ने हिंसात्मक मोड़ लेना शुरू कर दिया है। इन सारी बदलावजन्य परिस्थितियों के चलते विश्व व्यवस्था में आज अस्थिरता आने लगी है तथा विकास पथ संकटाग्रस्त हो चला है। प्राकृतिक संसाधनों का अपरिमित एवं अनियंत्रित दोहन और इनके चलते बढ़ता हुआ पर्यावरण प्रदूषण पूरी जीव सांस्कृति के लिए खतरा बन गया है। गरीब देशों में पाँच या सात सितारा होटल, आधुनिकतम महाभयंकर अस्त्र-शस्त्र, विविध प्रकार के आकर्षक विमान, नाना सुविधाओं से लैश मँहगी-मँहगी कारें, क्या गरीब लोगों अथवा विपन्न लोगों का मजाक उड़ाते नजर नहीं आने लगे हैं? सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि ये सब आज की भौतिकता प्रधान समाज की अनिवार्यताएँ मानी जाने लगी हैं। नवधनाढ्य एवं सम्पन्नवर्गीय वर्गों में असीमित भोग लिप्सा हमारे जीवन मूल्यों में विसंगतियाँ उत्पन्न कर रही हैं। नई-पुरानी पीढ़ी में लगातार संवादहीनता बढ़ती जा रही है। हमारा पारिवारिक ढाँचा टूट रहा है। चिरकाल से मान्य नैतिक मर्यादाएँ बड़ी तेजी से शिथिल होती जा रही हैं।

वस्तुतः विकास-तन्त्र अपने साथ अपने अनुकूल एक नया आचार-विधान भी रचता और विकसित करता चलता है। इस प्रक्रिया में नवोदित मूल्य-विधान अथवा अपने ढंग से सृजित मूल्य विधान पारम्परिक एवं स्थापित मूल्य विधान में विश्रृंखलन पैदा करने लगते हैं। सामाजिक परिवर्तन तथा नवोदित मूल्य विधान तकनीकी विकास एवं आर्थिक-सामाजिक सन्दर्भों में समय-सापेक्ष एक सहज प्रक्रिया है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के द्रुतगामी विकास के फलस्वरूप बीसवीं सदी में एक जटिल प्रश्न सांस्कृतिक अस्तित्व और अस्मिता का खड़ा हो गया है। आज एक तरफ विश्वग्राम की परिकल्पना दिखायी देने लगी है तो दूसरी ओर व्यक्तिवाद, विखण्डनवाद, प्रजातिवाद, भाशावाद एवं क्षेत्रीयतावाद के आग्रह एवं दुराग्रह भी तेजी से उभरने लगे हैं। जातीय भावना का तीव्रोत्कर्ष राष्ट्रों और राज्यों को अब विखण्डन की ओर ढकेलता जा रहा है। आज के बौद्धिक जगत् में एक तरफ

तो यह नारा सुनायी पड़ता है कि **‘ईश्वर मर गया’** तो दूसरी तरफ ठीक इसके विपरीत लोगों की धार्मिक भावनाएँ निरन्तर बलवती होती जा रही हैं। इतना ही नहीं उनकी एक धारा कट्टरवाद की ओर मुड़ती जा रही है। इस धारा की अभिव्यक्ति क्रमशः तीव्रतर होती हुई अब आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को चुनौती देती दिखायी पड़ रही है। आज जिस गति से प्रौद्योगिकी एवं उद्योग जगत् में परिवर्तन हो रहा है, उस गति से सामाजिक ढाँचे और मूल्यात्मक आधारों में नहीं। इन सबके फलस्वरूप हमारा सांस्थानिक ढाँचा चरमराने लगा है। इससे अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न होने लगी हैं। सामाजिक नैतिकता एवं बहुशः मान्य मूल्यों के ह्रास से मूल्यहीन और भोगवादी दृष्टिकोण पुष्ट होता जा रहा है। सामाजिक सरोकारों में न्यूनता आने लगी है। आज हमारा समाज क्रमशः लक्ष्यहीन होता जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप एक विघटनात्मक अराजकता फैलती जा रही है। बीसवीं एवं इक्कीसवीं के पूर्वार्द्ध सदी में उपजी इस प्रकार की विडम्बनाएँ इक्कीसवीं सदी में नही आने वाली सदियों में विरासत के रूप में मिलने जा रही हैं।

इक्कीसवीं सदी में सम्पूर्ण विश्व में एक एक नई जीवन शैली नवोदित मूल्यगत ढाँचा तथा उसके साथ बाजार से उपजी उपभोक्तावाद का दर्शन क्रमशः अपना वर्चस्व स्थापित करता जा रहा है। आज चारों तरफ उत्पादन बढ़ाने तथा शारीरिक भोग पर बड़ा जोर है, यह व्यक्ति के भौतिक सुख एवं भोग-वृत्ति की संतुष्टि के लिए हो रहा है। **‘सुख’** की पारम्परिक परिभाषा अब बदल चुकी है। आज अधिक उत्पादन तथा अधिकतम **‘उपयोग’** ही वास्तविक सुख माना जा रहा है। उत्पादन्य संस्कृति एक ओर तो लोगों को भोगवादी सुख के मायाजाल में फँसती जा रही है, तो दूसरी तरफ व्यक्ति के चरित्र और परम्परा स्थापित मूल्यों की जड़ों को भी धीरे-धीरे कमजोर करती जा रही है। हम सब जाने-अनजाने उत्पाद को समर्पित होते जा रहे हैं। मानव आज मानव न रहकर एक कमोडिटी बनता जा रहा है।

सामाजिक वैज्ञानिकों के सामने एक बड़ा प्रश्न यह खड़ा हो गया है कि भारत जैसे परम्परा एवं मूल्यवादी देश में वर्तमान उपभोक्तवादी संस्कृति का विकास किन कारणों से हो रहा है? इस प्रश्न का उत्तर भारतीय संस्कृति की प्रकृति की ऐतिहासिक समीक्षा से पाया जा सकता है। सामन्ती संस्कृति के तत्व भारतीय जीवन में बहुत पहले से ही न्यूनाधिक विद्यमान रहे हैं। उपभोक्तावाद किसी न किसी रूप में इस संस्कृति से जुड़ा माना जा सकता है। आज पूर्व सामन्तों का रूप बदल गया है और नवसृजित सामन्ती प्रवृत्ति नवभोगवाद का रूप ले चुकी है। हम सांस्कृतिक अस्मिता की बात चाहे जितनी करें, परन्तु इस सच को झुठलाया नहीं जा सकता है कि हमारी परम्पराओं का तथा स्थापित मूल्यों का ह्रास अवश्य हुआ है। हमारी आस्थाओं में क्रमशः कमी आयी है। क्या ऐसा नहीं लगता है कि हम पश्चिमी देशों के सांस्कृतिक उपनिवेशवाद से बंध गये हैं? हमारी आज की संस्कृति क्या पश्चिम की अन्धानुकरण की संस्कृति नहीं लगती? हम अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं एवं मूल्यों को

छोड़कर आधुनिकता के दिखावे भरे छद्म प्रतिमान अपनाते जा रहे हैं। अब हमारे स्थापित सांस्कृतिक मूल्य हमें वर्तमान जीवन मूल्यों के चलते दिग्भ्रमित होने से रोक नहीं पा रहे हैं। विज्ञापन और प्रचार-प्रसार के तन्त्र धीरे-धीरे हमारे घरों में घुसकर हमारी मानसिकता बदलते जा रहे हैं। हम झूठी तुष्टि, जिसे बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अनेक माध्यमों से परोस रही हैं, की चकाचौंध में भ्रमित हो गये हैं तथा विकास के बड़े-बड़े लक्ष्यों से कमशः पीछे हट रहे हैं। पारिवारिक मर्यादाएँ टूट रही हैं। नैतिक मूल्य एवं मानदण्ड शिथिल हो रहे हैं। व्यक्ति केन्द्रियता बढ़ रही है तथा हमारे छुद्र स्वार्थ परमार्थ को नकार रहे हैं। भोग की आकांक्षाएँ दिनोंदिन बढ़ती जा रही हैं तथा ये प्रवृत्तियाँ हमें कहाँ ले जाकर छोड़ेगी, कुछ समझ में नहीं आ रहा है। उपभोक्ता संस्कृति लगभग पाँच हजार वर्षों से चली आ रही भारतीय संस्कृति की सामाजिक नींव को ही हिलाने लगी है। गाँधी जी की यह बात आज हमें बार-बार याद आती है कि भारत को अपने मूलभूत सांस्कृतिक बुनियादों तथा मूल्यों पर कायम रहकर ही बाहरी दुनियाँ के स्वस्थ सांस्कृतिक प्रभावों से अपने को मजबूत बनाना ही श्रेयस्कर होगा। परन्तु अब हम स्वयं अपनी बुनियाद को ही वैश्वीकरण के दौर में हिलाने को तैयार दिख रहे हैं।

बहुत पहले महाकवि कालिदास ने कहा था कि पुराना सब कुछ अच्छा ही नहीं होता है और न ही नया सब कुछ त्याज्य ही (पुराणमित्येव न साधु सर्वं)। श्री गिरिजाकुमार माथुर जी भी कुछ ऐसा ही भाव एक जगह व्यक्त करते हैं।

“जो कुछ पुराना है, मोहक तो लगता है।

टूटन का दर्द मगर सहना ही पड़ता है।।”

समाज प्रकृति की तरह जड़वत न होकर गत्यात्मक रहता है। पर्यावरण में परिवर्तन, जनसंख्या का घनत्व, नई-नई प्राविधिक सम्भावनाएँ और आकांक्षाएँ नये क्षितिज तैयार करते रहते हैं और इनसे जो सामाजिक संरचना बनती है वह हमारे मूल्यात्मक आधार को नयी दिशा और गति प्रदान करती है। ऐसे में परिवर्तन की चुनौतियों का सामना कर सकने में असमर्थता सामाजिक व्याधि बन जाती है। अवरोध की स्थिति उत्पन्न होने पर ऐसे समाजों और संस्कृतियों के अस्तित्व और अस्मिता को गम्भीर टोस पहुँचता है। इतिहास साक्षी है कि जो समाज और संस्कृति, पर्यावरण, जनसंख्या के घनत्व तथा नई प्रौद्योगिक के साथ कदम से कदम मिलाकर नहीं चल सका, वह या तो मिट गया या विकास की दौड़ में बहुत पीछे छूट गया। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद विज्ञान और प्रौद्योगिकी की गति बहुत तीव्र हुई है और इक्कीसवीं सदी में इसमें और तेजी आती जा रही है। फलतः वे देश अथवा राष्ट्र जो इस वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी की गति के साथ नहीं चल पा रहे हैं, वे पिछड़ रहे हैं तथा उनके समाजों तथा मूल्यगत ढाँचे में समरसता की कमी तथा अनेक विसंगतियाँ एवं विकृतियाँ उत्पन्न होती जा रही हैं। समाज वैज्ञानिक प्रायः यह बात कहा करते हैं कि सामाजिक और सांस्कृतिक कारक नियोजित

परिवर्तन की प्रक्रिया में अवरोधक सिद्ध होते हैं और सामाजिक-सांस्कृतिक संवेदनहीन आर्थिक और प्रौद्योगिक विकास सामाजिक विघटन उत्पन्न कर सांस्कृतिक मूल्यों को अस्त-व्यक्त कर देते हैं। यह स्थिति अत्यन्त पीड़ादायक होती है क्योंकि एक ओर परम्परा का मोह तो दूसरी ओर नवाचारों का आकर्षण मानव समुदायों को दो विपरीत दिशाओं की ओर खींचने लगता है।

भारत सदियों से गाँव प्रधान देश रहा है। इस देश का समाज एक स्वस्थ परम्परा पोषित मूल्याधारित समाज रहा है। इस देश के लोगों ने विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की विकासशील प्रवृत्ति को सदैव आदर के साथ जानने, समझने तथा अपनाने का प्रयास किया है। लेकिन इसके साथ ही सांस्कृतिक स्तर पर अपने परम्परागत मूल्यों को भी सुरक्षित तथा पोषित रखने का प्रयास किया है। परन्तु आज भारतीय समाज गहरे संक्रमण-काल से गुजर रहा है। इस पर परिवर्तन का दबाव कई तरफ से पड़ रहा है। एक ओर आधुनिकीकरण इसकी अनिवार्यता है तो दूसरी ओर परम्परा के अपने आग्रह भी है। वैश्वीकरण के चलते दुनिया के अन्य देशों से मिलने वाली आर्थिक और तकनीकी सहायता अपने साथ वहाँ की जीवन शैली तथा मूल्यों को भी भारतीय जीवन में लाती जा रही है। जिन्हें बहुत से भारतीय लोग आधुनिकता समझकर बिना सोचे-समझे अपनाने में गौरव समझ रहे हैं। ऐसे लोग निश्चयतः भारतीय परम्परा के मूलस्वर से या तो अपरिचित हैं अथवा भारतीय जीवन-मूल्यों से कटे हुए लोग हैं। इस अन्धानुकरण की प्रवृत्ति ने सामाजिक परिवर्तन के नाम पर हमारे समाज में एक नई चिन्ता को जन्म दिया है, और वह है अपनी पहचान और अस्मिता को खोकर एक आकृतिहीन भीड़ की गुमनामी में खो जाने की। आधुनिकीकरण, प्रगति और परम्परा के समन्वय के जो भी प्रयत्न हुए हैं, उनके अधिकांश परिणाम अब तक हास्यास्पद ही रहे हैं। आज न हम पारम्परिक भारतीय रह गये हैं, न सच्चे अर्थों में हम आधुनिक ही हुए हैं। परिवर्तन के नाम पर हमने भारतीयता पर छद्म भारतीयता का लबादा अवश्य ओढ़ लिया है। हमने अनेक भ्रमों को पालते हुए एक गन्तव्यहीन यात्रा को वरण किया है। हमारे सामने आज सबसे बड़ी उलझन यह खड़ी हो गई है कि परम्परागत मूल्यों के पास समाज की सभी समस्याओं को हल करने की ताकत नहीं दिखायी दे रही है और न ही आधुनिकता के कार्यक्रमों में ऐसी विशिष्ट शक्ति ही दिखती है कि वह मूल्यों की अथवा परम्परा की अवहेलना कर समाज को आगे बढ़ा सके। हम अनिर्णय के गहरे दलदल में फँस से गये हैं और किसी सार्थक विकल्प की खोज के मार्ग को अवरोधित पा रहे हैं। भारतीय संस्कृति के सामने आज संक्रमण की चुनौती खड़ी है। परन्तु ध्यातव्य है कि संक्रमण तो एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। उसके दुखद और सुखद परिणाम तो आते जाते रहते हैं। पारिस्थितिक परिवर्तन का अनिवार्य कारण बन जाता है। परिवर्तन के अनेक कारक हो सकते हैं—यथा—नई आवश्यकताएँ, सुरक्षा की पर्याप्त और विश्वसनीय व्यवस्था, अत्याधिक श्रम और एकरसता को दूर करने वाली सुविधाएँ तथा नये प्रतिष्ठापरक उपादान आदि। श्रेष्ठ चिन्तक गोविन्दचन्द्र पाण्डेय जी का यह मत प्रस्तुत विमर्श में यौक्तिक प्रतीत है कि “समाज किसी भौतिक उपादान की संरचना नहीं है। वस्तुतः कर्मपरक व्यवस्था

के अनेक आयामों और स्तरों में सबसे गहरा है— धार्मिकता का मूल्य—“इस सन्दर्भ में बदलते सामाजिक जीवन में भी भारतीय संस्कृति की धर्मप्राणता विशेष विचारणीय बिन्दु है। मानव जीवन का अन्तर्मुख ही उसका आध्यात्मिक पक्ष है, जिसमें वह नितान्त वैयक्तिक होकर आत्म—बोध अथवा परमात्मबोध का प्रयास करता है। इसके विपरीत नैतिक जीवन में परोपकार, निःस्वार्थता, कर्तव्यपरायणता आदि मूल्य आते हैं। सम्राट अशोक ने अपने अभिलेखों में जीवन की इन्हीं वृत्तियों को संयम और भावशुद्धि का नाम दिया है। प्रो. पाण्डेय जी यह भी स्पष्ट करते हैं कि “आध्यात्मिक और नैतिक जीवन तभी सम्भव है, जब मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता और सार्वभौम एवं सनातन आदर्शों के प्रति सजग हो।” आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों को परम्परा के रूप में धर्म को सनातन सत्य का प्रकाश माना जा सकता है और इस रूप में संस्कृति अपने सारांश को विक्रियात्मक परिवर्तन से सदा बचाने की चेष्टा करती है।¹² हमें इस सत्य को स्वीकार करने में कोई विप्रतिपन्नता नहीं होनी चाहिए कि सांस्कृतिक परम्परा हमारी सर्जनात्मक चेतना से उद्भूत होती है। यह चेतना महापुरुषों के क्रियात्मक संकेतों तथा बौद्धिक एवं मूल्यपरक विचारणा से सृजित होती है। इसीलिए सांस्कृतिक मूल्य न तो भौतिक पदार्थ है और न ही जैविक। उसका अदृश्य प्रवाह हमारी शिक्षा परम्परा के द्वारा हमारे मानस में प्रतिष्ठित होता है। उसका सम्बन्ध सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों से विगलित नहीं होता है। वस्तुतः संस्कृति और परम्परा दोनों ही मानसिक संकल्पनाएँ हैं। इनका प्रतिरूप या तो समाज अर्थात् उसके साहित्यकार, इतिहासकार, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक व्याख्याता या तो स्वयं गढ़ते हैं अथवा दूसरे के द्वारा गढ़े हुए प्रतिरूप को ग्रहण कर लेते हैं। कभी—कभी उसमें एक से अधिक प्रतिस्पर्धी प्रतिरूप एक साथ अस्तित्व में रहते हैं। इस तरह के किसी प्रतिरूप में संस्कृति के सभी तत्वों का समावेश सम्भव नहीं होता है। अस्तु, उन्हें अपने मूल्यों के संदर्भ में तात्कालिकता की निश्चित योजना में संजोने की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ हमारे आदर्श ग्रन्थ रामायण भी हैं और महाभारत भी। हमें अपने वीरगाथा काल पर भी गर्व है और भक्तिकाल पर भी। वस्तुतः युद्ध और शान्ति दोनों ही हमारी परम्परा के अंग हैं। इनका चुनाव समय सापेक्ष होता है।

संस्कृति को देखने—समझने के मुख्यतः दो दृष्टिकोण अपनाये गये हैं। पहला वृक्ष रूप और दूसरा नदी रूप। पहले दृष्टिकोण में वृक्ष की तरह संस्कृति की समान जड़े, एक तना और अनेक शाखाओं का परिकल्पन है जिसमें वैदिक पौराणिक एवं तांत्रिक धर्म और विचार जैसे मूल के साथ बौद्ध, जैन, सिक्ख, चार्वाक लोकायत आदि उसी वृक्ष—मूल से संयुक्त शाखायें मानी जा सकती हैं। परन्तु ध्यातव्य है कि लोकायत, बौद्ध एवं जैन आदि शक्तिशाली प्रतिसंस्कृतियाँ थी, जिन्होंने मूल हिन्दू विचारधारा को न केवल मोड़ देने का प्रयास किया था, बल्कि उसके लक्ष्यों और साधनों की एक नयी व्याख्या भी प्रस्तुत किया था। हमारी संस्कृति में ऐसी अनेक चिन्तन धारायें विभिन्न कालों में आती रहीं तथा समय के अन्तराल में वे हमारी परम्परा का अंग बनती गयी। परन्तु आज हमारे सामने परिवर्तन की जो चुनौती खड़ी हुई है, वह इन सबसे सर्वथा पृथक् और विकराल हैं। हमारे सामने

आधुनिकीकरण की चुनौती है। हमने आधुनिकता के आधार मूल्य जैसे तार्किकता, विवेकशीलता, सामाजिक गतिशीलता, परानुभूति, सक्रिय सहभागिता आदि नवीनताओं को तो गम्भीरता के साथ नहीं अपनाया। हम केवल उसके बाहरी एवं उपभोगवादी चकाचौंध एवं लक्षणों में उलझकर रह गये हैं। परिणामस्वरूप हमारे सामाजिक जीवन में व्यक्ति केन्द्रियता बढ़ी है तथा मानवीय सामाजिक सरोकारों में कमी आयी है। धर्मनिरपेक्षता आज के परिवर्तित सामाजिक संदर्भ में धर्म विमुखता बन गयी है। धर्म के मूलाधार विस्मृत हो रहे हैं तथा तांत्रिक और चमत्कारिक बाबा लोग भोग परस्त तथा फल-फूल रहे हैं। आर्थिक उदारता, मुक्त बाजार-व्यवस्था, वैश्वीकरण सम्पूर्ण भारतीय जीवन मूल्यों में एक अप-संस्कृति फैला रहे हैं और हम इस स्थिति को एक असहाय दर्शक बनकर देखने को मजबूर हैं। इससे भी बड़ी चुनौती आज दिख रही है धर्म के दुरुपयोग की। होना तो चाहिए था नवजागरण के प्रति प्रतिबद्ध प्रयत्न का, लेकिन हो रहा है अल्पकालिक राजनीतिक लाभ के लिए धर्म के दुरुपयोग का। धर्म के अन्तर्निहित मूल्यों यथा-परोपकार, सेवा, करुणा तथा समता आदि उदात्त भावनाएँ तो आज गौण होती जा रही है तथा इनके स्थान पर विवेकहीनता, धर्मान्धता तथा मूल्यहीनता प्रधानता को प्राप्त हो रही है। इसी तरह आज हमारे सामने एक और महत्वपूर्ण चुनौती सामने आने लगी है। अविवेकी तथा तात्कालिक लाभ की गन्दी राजनीति की। एक ओर जहाँ विश्व के सामने पर्यावरण, आटमिक युद्ध, ऊर्जा की कमी, भूख, आवासहीनता तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि विकट प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़े जा रहे हैं, वहीं हमारी राजनीति में कुर्सी पाने तथा सत्ता प्राप्ति की घिनौनी चालें आम बात हो चुकी है। बदलते जीवन मूल्य के इस दौर में किसी भी सत्ताधारी तथा राजनीतिज्ञ को मानव भविष्य की चिन्ता नहीं है। समाज में स्थापित एवं लोक मंगलकारी मूल्य ऐसे में अपनी भूमि छोड़ते दिख रहे हैं। समय आ गया है इन पर गम्भीरता से विचार करने के साथ हल ढूँढ़ने का।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. द्रष्टव्य, प्रो० गोविन्द चन्द्र : भारतीय समाज, तात्त्विक और ऐतिहासिक विवेचन, प्रथम संस्करण, 1994, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ० 87।
2. द्रष्टव्य, वही, पृ० 87

प्रो० हरि नारायण दुबे

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद

मो० : 9936917424